

सामाजिक वार्ता
बुलेटिन, जून 1980

लोहिया की प्रासंगिकता
— किशन पटनायक

असम आन्दोलन
—रघुपति

लोहिया की प्रासंगिकता

किशन पटनायक

परिवर्तन लाने के उद्देश्य से जिन सामाजिक सिद्धांतों और कार्यक्रमों का प्रयोग होता है, उन्हें खुद ही अपना परिष्कार करते रहना पड़ता है या परिष्कृत होना पड़ता है। यदि सिद्धांत बनानेवाला व्यक्ति एक महान चिन्तक हुआ तो उसका सिद्धांत अपने स्थूल रूप में प्रयोग किये जाने पर और भी ज्यादा अनुपयुक्त होता है हालांकि सिद्धांत की बुनियादी और मूल धारणाएं शताब्दियों तक मान्य और संगत बनी रह सकती हैं। दुनिया के महान् चिन्तकों में से अफलातून (प्लेटो), मार्क्स और गांधी जैसे महानतम चिन्तकों का यदि हम उदाहरण लें तो कहना होगा कि उनके सिद्धांत समग्र रूप में सिर्फ इसीलिए व्यवहार-योग्य नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्ण विश्व की और शताब्दियों तक की विकास की योजना और परिकल्पना रखते हैं जबकि हर सिद्धांत का व्यवहार-योग्य होने के लिए स्थान और समय सापेक्ष होना आवश्यक है। इन महान चिन्तकों के सिद्धांत राष्ट्र और समय की सीमा में आबद्ध नहीं हैं जबकि सिद्धांतों को राष्ट्र की सीमा के भीतर एक खास समय तक ही, बीस-तीस-चालीस-पचास साल तक, अमल में लाया जा सकता है। लेकिन, माओं और विस्मार्क जैसे महान् राजनीतिक नेताओं को भी राष्ट्र के भीतर ही कार्य करना पड़ा और ऐसी रणनीतियां बनानी पड़ी जो तीस-चालीस-पचास साल तक के लिए ही थीं। इसीलिए दिक्काल को देखते हुए उन लोगों को जो सिद्धांतों को तत्काल व्यवहार में लाना चाहते हैं उन्हें नया रूप देना पड़ता है। एक अर्थ में तो सिद्धांत, महज वास्तविकता को जांचने-परखने की प्रायोगिक या परीक्षात्मक या कामचलाऊ कसौटियां होते हैं। एक अच्छे सिद्धांत को यदि ईमानदारी से व्यवहार में लाया जाए तो उससे वास्तविकता के नये पहलू और रूप उजागर होंगे। वास्तविकता पर सिद्धांत का परीक्षण करने में वास्तविकता भी रूपांतरित (परिवर्तित) होती है और सिद्धांत पर अपने अनुसार दबाव डालती है। यदि सिद्धांत को गलत ढंग से और पूरी निष्ठा के साथ अमल में नहीं लाया जाता तो जटिलताएं

और विकृतियां पैदा होती हैं। इन विकृतियों के कारण सिद्धांत में और भी ज्यादा परिवर्तन और परिष्कार जी जरूरत हो जाती है।

कार्यक्रम तो और भी समय और स्थान के अनुसार ज्यादा होते हैं। वे तो किसी खास समय पर किसी खास इलाके की परिस्थितियों को ही ध्यान में रखकर तय किये जाते हैं। इसीलिए समय-समय पर पुराने कार्यक्रमों के स्थान पर नये कार्यक्रम अपनाने पड़ते हैं।

हमने ऊपर जो कुछ लिखा है वह एक प्रकार की क्षमायाचना है, जो महान व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को परिष्कृत करते रहने की आवश्यकता का औचित्य सिद्ध करने के लिए है। हां, यह भी ध्यान देने की बात है कि परिष्कार करने की प्रक्रिया में अशुद्धीकरण और जानबूझ कर विकृति भी हो सकती है जिससे यह सिद्ध कर सकना असंभव हो जा सकता है कि कौन अपने गुरु के सिद्धांतों को ईमानदारी से व्यवहार में ला रहा है और कौन उन्हें विकृत कर रहा है। हम इतना ही देख सकते हैं कि शिष्य या अनुयायी जोश, लगन और ईमानदारी से सिद्धांतों को व्यवहार में लाने के लिए सचेष्ट हैं या नहीं।

ऊपर की इन बातों को कहना आवश्यक था क्योंकि हमारी राजनीति के वर्तमान समय में, यह एक नये युग की शुरुआत हो रही है, लोहियावादियों और लोहिया की प्रासंगिकता को जांचना-परखना यहां हमारा अभीष्ट है। ऐसा लगता है कि अनुयायियों के मामले में लोहिया खासतौर पर सबसे ज्यादा अभागे रहे। उनके अनुयायी स्पष्ट रूप से दो प्रकार के हैं- वे जो उनकी सूक्तियों को बिना समझे-बूझे असम्बद्ध ढंग से दुहराते रहते हैं और दूसरे वे जो सिर्फ राजनीतिक अवसरवादिता और तात्कालिक राजनीतिक लाभ की खातिर लोहिया के प्रति अपनी बफादारी का प्रदर्शन करते रहते हैं। वे महान व्यक्ति निश्चय ही भाग्यशाली कहे जाएंगे, जिनके अनुयायी और उत्तराधिकारी अपने गुरु के बचनों और शिक्षाओं के शब्दों को अमिट नहीं मानते और गुरु की भावनाओं और उसके मिशन को समझकर उसे आगे बढ़ाते रहते हैं और उसे इतना प्रशस्त कर डालते हैं कि वह एक शक्तिशाली धारा का रूप ले ले। ऐसे अनुयायियों की प्रामाणिकता उनकी ईमानदारी, सोद्देश्यता और

निःस्वार्थ लगन में प्रकट होत है। क्या कोई यह कह सकता है कि विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस से अलग रास्ता अपनाया? अपने गुरु के साथ विश्वासघात किया? लेकिन इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि विवेकानन्द ने जो कुछ प्रचार किया जो उपदेश दिये, उनका तरीका, स्वरूप यहां तक कि उनके उपदेश के विषय तक रामकृष्ण परमहंस से अलग थे।

वक्त गुजरने के साथ लोहियावादियों में जो अवसरवादी और सिद्धांतहीन थे, उनका काफी हद तक परदाफाश हो गया है। सिर्फ वे ही लोग जो लोहिया को जानते और समझते नहीं, राजनारायण और मधु लिमये सरीखों को लोहियावादी मानेंगे। लेकिन वे छोटे-छोटे ईमानदार समूह और इधर-उधर बिखरे हुए व्यक्ति भी, जिनकी निष्ठा में संदेह नहीं किया जा सकता, जबतक निरर्थक हैं जबतक निरर्थक हैं जबतक कि वे लोहिया के महज पूजक बने रहते हैं और सिर्फ उनकी जन्म और पुण्य तिथियां मनाते रहते हैं तब तोते की तरह उनके कुछ चमत्कारी बचनों को दुहराते रहते हैं। जबतक कि लोहिया के विचार उनके अपने दिमाग और आत्मा के इस तरह अभिन्न अंग नहीं बनते कि वे उन्हें अपने शब्दों, अपनी भाषा, अपनी उपमाओं और अपने उदाहरणों व आंकड़ों में प्रकट नहीं कर सकते तबतक उन्हें 'तोता' ही कहना पड़ेगा। लोहियावादियों को 'जेल, फावड़ा और वोट' की बात कहते हुए तथा इस बात पर जोर देते हुए देखना कि 'विकेन्द्रीकरण तबतक प्रमाणिक नहीं हो सकता जबतक कि उसे 'चौखम्भा राज' न कहा जाए, सचमुच ही जुगुप्साजनक है। अगर किसी लोहियावादी को धर्म पर कुछ बोलने को कहा जाए तो वह लोहिया की इस बात से अपना वक्तव्य शुरू करेगा कि 'धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म।' पिछड़ों के लिए आरक्षण के बारे में वह (लोहियावादी) लोहिया की 60 प्रतिशत आरक्षण की बात को ऐसी अमित लकीर मानेगा कि 59 प्रतिशत या 61 प्रतिशत का विरोध करेगा; उसे तो 60 प्रतिशत की मंजूर होगा। मैंने लोहियावादियों को बढ़ती हुई कीमतों पर बोलते सुना है। इस बारे में बोलते हुए वे हमेशा स्ट्रेप्टो-माइसिन की सूई की लागत और उसके बाजार दाम को उदाहरण रखते हैं। आज 25 साल पहले लोहिजया ने स्ट्रेप्टोमाइसिन की सूई की लागत और उसकी बाजार-कीमत के बारे

में जो विश्लेषण किया था, लोहियावादी उसी को दुहराते रहते हैं। इसके बाद से किसी भी लोहियावादी ने किसी अन्य चीज के बारे में लागत और कीमत के सम्बन्ध का परीक्षण और विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की है। यहां ये उदाहरण सिर्फ यह जताने के लिए दिये गए हैं कि लोहिया की मृत्यु के बाद लोहिया के विचारों में किसी भी प्रकार की रचनात्मकता लाने की कोशिश नहीं की गयी है⁹ उनकी समीक्षा या आलोचना कर उनका विकास नहीं किया है। बहुत-से भी लोहियावादी, विश्वविद्यालयों में पढ़े-लिखे ग्रेजुएट हैं पर वे अशिक्षित हैं क्योंकि वे कभी पढ़ते और लिखते नहीं, कभी समाजवाद के सैद्धांतिक पहलुओं के बारे में सोचते और बहस नहीं करते। लोहिया के उन अनुयायियों में से, जिन्होंने राजनीतिक सत्ता और प्रसिद्धि प्राप्त की है, किसी ने भी राजनीति या आर्थिक विचार और विश्लेषण के क्षेत्र में कुछ भी नया नहीं जोड़ा है। यह नहीं है कि ऐसे लोग बुद्धिजीवी नहीं हैं। उनके कुछ भी नया जोड़ न पाने की वजह यह है कि वे राजनीतिक अवसरवादिता में इस तरह आकंट डूबे हुए हैं कि वे लिखने-पढ़ने को कोई महत्त्व नहीं देते; उन्हें सिर्फ ऐसी चीजों से ही मतलब है जिनसे उनके अहं की तुष्टि होती हो।

इसका नतीजा यह हुआ कि दर्शन और सिद्धांत के मामले में पूरा दिवालियापन नजर आता है और सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक स्तरों पर कोई क्रांतिकारी या उग्र कार्य करने की क्षमता का एकदम लोप हो गया है; ऐसा बांझपन पहले कभी नहीं देखा गया था। राजनीतिक स्तर पर जन-शक्ति निर्माण के अनवरत और कष्टसाध्य कार्य करने के बजाय गरमजोशी वाली लफ्फाजी और ध्यान आकर्षित करानेवाले प्रपंचों को ही महत्वपूर्ण मान लिया गया है। समाजवादी और खासकर लोहियावादी समाजवादी इतने ज्यादा आत्मतुष्ट, पश्चाताप-रहित और व्यक्तिवादी हैं कि जुगुप्सा पैदा करते हैं। ऐसा लगता है कि उनमें जन्मना ही ऐसी कोई दोष है जिसके चलते वे कोई नया कदम उठाने के लिए आत्मनिरीक्षण करने और आपस में सलाहमशविरा करने में एकदम असमर्थ हैं। वे लगातार बैठकर अपनी हाल की असफलताओं की समीक्षा करने और अपनी कार्यशैली को सुधारने के बारे में सोचने में भी असमर्थ हैं।

आत्मनिरीक्षण के अभाव में पहले से ही निराशा की जो स्थिति है वह और भी ज्यादा हताश करती है, ऐसे में लगने लगता है कि कभी कोई सुधार नहीं होगा। सिर्फ समाजवादियों की नयी पीढ़ी ही, जिसने लोहिया को हाल में जानना शुरू किया है और जो लोहिया के गैरकांग्रेसवाद वाले दौर से बंधी हुई नहीं है, शायद लोहिया को पूजकों और अवसरवादियों के हाथ से विकृत किये जाने और नष्ट व मिटा दिये जाने से बचा सकती है। ऐसे युवा समाजवादियों को पहले उस विश्व-दृष्टि से परिचित और दीक्षित होना होगा, जो लोहिया ने 'इकनामिक्स आफ्टर मार्क्स' और 'तिहास-चक्र' में रखी है। गैरकांग्रेसवाद की परिकल्पना के पहले के संघर्ष और असहमति पर बल देनेवाले लोहिया, आज क्रांतिकारी समाजवादी राजनीति को पुनरुज्जीवित करने के लिए ज्यादा प्रासंगिक हैं। बाद के लोहिया शुरू के लोहिया की ही रणनीतियों और तात्कालिक कार्यक्रम के मामलों में प्रसारित रूप थे। लेकिन जिन्होंने सत्ता की राजनीति में उनका उत्तराधिकार पाया है, उन्होंने सत्ता में हिस्सा बटानेवाले सम्पन्न और सुविधापूर्ण दिनों की ही याद रखी है; उनका एकमात्र उद्देश सत्ता प्राप्त करना ही रह गया है।

कांग्रेस हटाओं, अंगरेजी हटाओं, दाम बांधों और जाति तोड़ो आदि नारे तभी सार्थक हो सकते हैं जबकि उनका विचारधारा से गहरा सम्बन्ध हो और वे उसके कार्यक्रम की अभिव्यक्ति हों। हमारे समाज और अर्थ व्यवस्था के समांतवादी और पूंजीवादी ढांचे को नष्ट करने के क्रांतिकारी उद्देश्य के बिना ये क्रांतिकारी नारे फलदायक नहीं हो सकते और इनका नतीजा उलटा भी निकल सकता है।

हाल के दिनों में लोहिया के नाम पर जो सबसे बड़ी विकृति फैलायी गयी, वह थी लोकदल की पिछड़ों के लिए आरक्षण की नीति। आरक्षण की नीति, जब उसका जाति और जातिव्यवस्था को नष्ट करने के लिए इस्तेमाल किया जाए तो एक क्रांतिकारी हथियार है। लेकिन बिहार में कर्पूरी ठाकुर और मधु लिमये ने चुनाव की राजनीति में फायदा उठाने के लिए मध्य जातियों के प्रभावशाली तत्वों को जानबूझ कर उठाना शुरू किया। यह लोहिया की नीति नहीं थी। नेहरू से

लेकर इंदिरा गांधी ने वोट प्राप्त करने के लिए जाति की रणनीति को इस्तेमाल किया है। यह बात अलग है कि उनके इस कौशल में मध्य जातियों के बजाय अन्य जातियों को इस्तेमाल किया गया था। कांग्रेस अब तक ब्राहमणों, हरिजनों और मुसलमानों का गठबंधन बनाने की चेष्टा करती आयी है जबकि लोकदल ने पिछड़ों और मुसलमानों का गठबंधन बनाने की चेष्टा की। यदि पिछड़ों को उठाने के आंदोलन को सचमुच ही पिछड़े वर्ग का आंदोलन बनना है तो उसमें जाति के आधार पर संगठित करने के कार्य में वर्ग-संघर्ष को शामिल करना ही होगा।

यह एक तथ्य है कि लोहिया की जाति-नीति के तभी अच्छे नतीजे निकले हैं जब उसमें सभी पिछड़ों-हरिजनों, शूद्रों, स्त्रियों और नीची जातियों के मुसलमानों को एकाकार किया गया है और उनकी सामूहिक शक्ति का सामाजिक रूढ़िवाद और विषमता को नष्ट करने के लिए उपयोग किया गया है। आरक्षण-नीति इस तरह प्रस्तुत की जानी चाहिए कि उससे हरिजन-जातियों एवं मध्य जातियों के गरीब तबकों और नीची जातियों के मुसलमानों को फायदा हो। कर्पूरी ठाकुर ने तो पिछड़ों का अर्थ संकुचित कर मध्य जाति की ताकतवर जातियां- यादव, कुर्मी और जाट ही कर दिया; मधु लिमये ने तो हद कर दी, उन्होंने राजपूतों तक के लिए आरक्षण करने की मांग की।

समाजवादियों की जाति-नीति को इस तरह नये ढंग से रखना होगा कि जिससे (1) हरिजनों को संगठित करने पर सबसे ज्यादा महत्त्व दिया जाए, (2) जातीय अलगाव दूर करने के लिए आरक्षण की नीति को अन्तरजातीय विवाहों और अन्तरजातीय सामाजिक कार्यक्रमों के साथ अभिन्न रूप से जोड़ा जाए, (3) गैरहरिजनों (पिछड़ों) में उन लोगों को आरक्षण के मामले में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए, जो अन्तरजातीय विवाह करें, (4) शिक्षा और प्रशिक्षण के एक विशाल और प्रभावशाली कार्यक्रम के बिना आरक्षण का फायदा पिछड़ी जातियों के सम्पन्न लोगों को ही मिलता रहेगा सो इस कमी के दूर करने के उपाय ढूँढ़े जाए, (5) आरक्षण सिर्फ गजटी और राजनीतिक पदों के लिए ही लागू किया जाए, अन्य सभी नौकरिकों और प्रोन्नति के मामले में आरक्षण लागू न किया जाए

(6) आरक्षण एक निश्चित अवधि तक के लिए ही लागू किया जाए और उसे पूरी तरह लागू किया जाए। अवधि समाप्त होने के बाद उसे बढ़ाया न जाए।

इसी तरह अंगरेजी हटाओं की नीति को भी नये ढंग से रखना होगा। अंगरेजी हटाओं का नारा 1977 के बाद विश्वसनीय नहीं रह गया है क्योंकि अंगरेजी हटाओं आन्दोलन के नेताओं में मंत्री बनने और सत्तारूढ़ होने पर कांग्रेस की भाषा-नीति को बदलने की तनिक भी कोशिश नहीं की और आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने भी इस विश्वासघात का विरोध तक नहीं किया। इससे इस आशंका को बल मिला है कि यह आन्दोलन लोकभाषाओं की स्थापना के बजाय हिन्दी का प्रचार और प्रसार ज्यादा करना चाहता है। इस आशंका को दूर करने और आंदोलन को फिर से विश्वसनीय बनाने तथा उसमें नयी जान डालने के लिए ये कदम उठाने होंगे – (1) अंगरेजी हटाओं सम्मेलन करने के बजाय लोकभाषा सम्मेलन करने होंगे अर्थात् अंगरेजी हटाओं सम्मेलन के स्थान पर लोकभाषा सम्मेलन को प्राथमिकता देनी होगी, (2) संगठनों की कमेटियों, सम्मेलनों और बैठकों में अहिन्दी भाषी सदस्यों को अपनी राय प्रकट करने का समुचित अवसर देना होगा, और यह काम उनकी क्षेत्रीय भाषाओं को व्यवहार में लोकर ही किया जा सकता है। (3) हिन्दी क्षेत्रों के सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को कम-से-कम एक अहिन्दी भारतीय भाषा सीखनी होगी, (4) अंगरेजी की जगह लोकभाषाएं लाने और अंगरेजी माध्यम के बच्चों के स्कूल समाप्त करने के आंदोलनों द्वारा कार्यक्रम में उग्रता लानी होगी। यह समझना होगा कि अंगरेजी का विरोध एक विदेशी भाषा होने की बजह से नहीं बल्कि इसलिए है कि इसके द्वारा बौद्धिक उपनिवेशवाद को तथा सामंती मनोवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

अब गैरकांग्रेसवाद को मुख्य राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। समाजवादियों को गैरसमाजवादियों के साथ सत्ता में हिस्सेदारी न करने की नीति को फिर से अपनाना होगा।

समाजवादी आर्थिक संघर्षों को भूल गये हैं। उन्हें आर्थिक संघर्ष करने की अपनी पुरानी आदत फिर से डालनी होगी और भूमि-संघर्षों पर विशेष जोर देना होगा। वे गांव बनाम शहर और अंगड़ों बनाम पिछड़ों के संघर्ष के नाम पर अमीर और गरीब के संघर्ष की कठिनायों और कष्टों से बचते रहे हैं। शहर बनाम गांव और अंगड़ों बनाम पिछड़ों के संघर्ष तभी सार्थक सकते हैं जबकि गांव-पक्ष और पिछड़े-पक्ष का नेतृत्व धनी जमींदारों के हाथ में न हो। इन जमींदार तत्त्वों का शहरीकरण और जाति-प्रथा के बने रहने में छिपा हुआ निहित स्वार्थ हैं। इसीलिए लम्बी-चौड़ी-डोंग मारने वाले ये संघर्ष अक्सर नकली होते हैं और गरीब जनता इनसे अनुप्राणित नहीं होती।

अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि यद्यपि विश्व के महान चिन्तकों में लोहिया ही शायद पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने हमारा ध्यान इस बात की ओर दिलाया था कि पूंजीवादी शोषण की साम्राज्यवादी व्यवस्था से अलग करके पहचाना नहीं जा सकता; और शोषकों तथा सर्वहारा के बीच वास्तविक वर्ग विभाजन को विश्व की साम्राज्यवादी व्यवस्था के संदर्भ में ही देखना होगा। लेकिन यह अफसोस की बात है कि समाजवादियों ने अपने आंदोलन को कभी विश्व-स्तर पर नहीं जोड़ा। लोहिया के एक सच्चे अनुयायी को अन्तरराष्ट्रीय शोषण के खिलाफ संघर्ष करना ही होगा।

समाजवादी मुख्य रूप से सरकार अर्थात् राजनीतिक सत्ता के खिलाफ ही लड़ते रहे हैं। राजनीतिक सत्ता के खिलाफ संघर्ष मुख्य रूप से मध्यवर्ग का मामला बन जाता है। समाजवादी और सर्वोदय आंदोलनों ने आर्थिक सत्ताधारियों के खिलाफ अहिंसक संघर्ष का कभी कारगर ढंग से इस्तेमाल नहीं किया है। हाल में बिहार में छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी ने गया, मुजफ्फरपुर, मधुबनी जिलों में जमींदारों के खिलाफ भूमिहीनों का संघर्ष चलाया है। इस अहिंसक संघर्ष से समाजवादी काफी-कुछ सीख सकते हैं।

ऊपर हमने सिर्फ कुछ उदाहरण दिये हैं, जो उस दिशा की ओर संकेत करते हैं जिससे लोहिया को हम, हमारे युग के ऐसे महानतम चिन्तक के रूप में प्रासंगिक बना सकते हैं, जिन्होंने तीसरी दुनिया और खासकर भारत के संदर्भ में समाजवाद को पुनः परिभाषित किया था।

असम आन्दोलन और भारतीय राजनीति की पंगुता

रघुपति

असम आंदोलन एक अभूतपूर्व घटना है। एक व्यापक और गहरा जनांदोलन है। कोई आंदोलन गहरा, व्यापक और जनांदोलन तभी बनता है जब कहीं-न-कहीं चल रही व्यवस्था के खिलाफ वहां के लोगों में एक व्यापक निराशा हो। निराशा, ईर्ष्या या असंतोष कई कारणों से उभरते हैं। जब किसी कौम, क्षेत्र या राष्ट्र की पहचान आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक कारणों से संकट में फंस जाती है या पहचान पर ही खतरा पैदा हो जाता है उस समय पूरा राष्ट्र अपनी निराशा, ईर्ष्या या असंतोष को संगठित कर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देने को तैयार रहता है।

तेलांगना, झारखंड आदि का आंदोलन भी मुख्यतः क्षेत्रीय शोषण के खिलाफ बगावत है। हिन्दुस्तान के कुछ प्रमुख इलाकों या क्षेत्रों की गरीबी प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर होने के बाद भी बढ़ती जा रही है। छात्र-नौजवाद, मजदूर-किसान बेकार हो रहे हैं। वहीं कुछ फैशनपरस्त इलाके लोग विपुल सम्पत्ति के मालिक हो रहे हैं। यह समस्या अन्दरूनी उपनिवेशवाद की समस्या है। जबतक क्षेत्रीय विषमता और बेरोजगारी की समस्या का हल नहीं किया जाता है तब तक एक के बाद दूसरे पिछड़े इलाकों में इस प्रकार के उपनिवेश बाद के खिलाफ विद्रोह उठता रहेगा।

असम-आंदोलन के पीछे ये सारी समस्याएं हैं जिसके कारण इतना बड़ा आंदोलन हो पाया। आंदोलन की तात्कालिक मांगों से सारी समस्याओं का अहसास नहीं होता है। लेकिन इस प्रकार के आंदोलन में किसी एक मांग को लेकर आम जनता उसके साथ जुड़ जाती है और अपने पेट और मन के आक्रोश को जाहिर करने के लिए उनसे एक मार्ग मिल जाता है जब आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों प्रकार के विद्रोह एक साथ हो जाता है उस वक्त एक राष्ट्रीय आंदोलन जैसा

आंदोलन खड़ा हो जाता है। असम-आंदोलन में सामान्य आदमी और खासतौर से औरतों की भागीदारी अभूतपूर्व है। इस तरह के आंदोलन में तटस्थ नहीं रहा जा सकता है।

मांगे अगर सतही भी हों तब भी आन्दोलन का विरोध नहीं किया जा सकता है।

आन्दोलन के दो सकारात्मक पहलू हैं – (i) सत्याग्रह, (ii) आम साझेदारी। हिंसा से दूर ऐसे आन्दोलन में जिसमें सत्याग्रह हथियार हो, राष्ट्र पर कभी स्थायी नुकसान नहीं पहुंच सकता। अभी तक हिंसा की जितनी घटनाएं हुई हैं वह आन्दोलन की मुख्य धारा नहीं हैं, बल्कि अपवाद हैं। इतना व्यतिक्रम भारत के आजादी के आन्दोलन और बिहार आन्दोलन में भी हुआ है। सत्याग्रह में आम साझेदारी से आन्दोलन को सृजनात्मक बनाया जा सकता है। केवल ये दो सकारात्मक पहलू ऐसी अनेक संभावनाओं को प्रकट करते हैं जिससे इस आन्दोलन को व्यवस्था परिवर्तन का आन्दोलन बनाया जा सकता है। असम की समस्या आज की समस्या नहीं है, 1947 से चली आ रही है। 1947 में एक हिंसात्मक आन्दोलन के रूप में यह समस्या उठी थी। परन्तु भारतीय राजनीति तथा संसद, सरकारों और अखबारों ने इस समस्या के हल के लिए कोई पहल नहीं की। उसी ढंग से जिस ढंग से हिन्दुस्तान के अनेक समस्याओं को छोड़ा जा रहा है। पिछले 20-25 सालों की राजनीति और सरकार इन समस्याओं के प्रति उदासीन रही है। संगठित राजनीतिक दल उसी तरह इन मसलों के लिए बेकार साबित हुए हैं, जैसे सरकार और अखबार। क्योंकि इन समस्याओं को उभारने और तार्किक परिणाम तक ले जाने में संगठित दलीय राजनीति असमर्थ साबित हुई है, इसीलिए बार-बार असंगठित आन्दोलन हुए हैं और हर बार विद्यालयों ने उनका नेतृत्व किया है। 1973 का गुजरात और 1974 का बिहार आन्दोलन असंगठित समूह का आन्दोलन था जो पिछली व्यवस्था के असंतोष के कारण उभरा था। इन्हें भी राजनीतिक दल संगठित नहीं कर सके। हालांकि ये राष्ट्रीय आन्दोलन बन गये थे। 1980 के लोकसभा चुनाव के बाद से टूटे-फूटे निराश विरोधी दलों ने देश में हार की भावना को पैदा किया है और फैलाया है। असम का आन्दोलन आज हारूपन के खिलाफ एक दीपशिखा है। इसका संकेत है कि आम जनता अपनी

समस्याओं पर खुद आन्दोलन पैदा कर सकती है और बिना राजनीतिक दलों का सहारा लिए लम्बे अरसे तक चला भी सकती है। इस रास्ते को समझने के लिए और पकड़ने के लिए भी समता युवजन सभा तथा देश के अन्य संवेदनशील संगठन समूहों को तत्काल कोई कार्यवाही करनी चाहिए। सर्वप्रथम तो इस आन्दोलन के खिलाफ जो सरकारी प्रचार है जिसके अधिकतर बुद्धिजीवी शिकार हो गये हैं, उसकी सफाई करनी होगी। आन्दोलन के खिलाफ मुख्यतः निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :-

- (i) यह अलगाव पैदा कर सकता है।
- (ii) विदेशी के खिलाफ के साथ-साथ यह गैर-असमियों के खिलाफ भी है।
- (iii) पूरे आन्दोलन में भावनात्मक धारा ही मुख्य है।
- (iv) आन्दोलन साम्प्रदायिक है।
- (v) विदेशी एजेण्टों का खेल हो सकता है।

ये सारे सवाल पैदा हो भी सकते हैं। फलस्वरूप गैर-असामी हिन्दुस्तानी समाज इस आन्दोलन के प्रति मूक द्रष्टा रहा, दमन की कार्यवाही चलती रही, दमन के लिए नये-नये कानून बनते रहे। इतने दिनों की आजादी के बाद भी सत्याग्रह से आजादी पानेवाली देश की सरकार सत्याग्रह और हिंसात्मक आन्दोलन में फर्क नहीं कर पायी। गोली-बन्दूक, लाठी-पुलिस-अश्रुगैस, सेना, कपर्डू दोनों तरह के आन्दोलन को दबाने में प्रयुक्त होते रहे हैं। असम आन्दोलन पेट और मन के कई सबालों को छूता है। इसे न तो सरकार समझ पायी, न कोई राजनीतिक दल। सभी इसे कानून-व्यवस्था की वृत्ति गड़बड़ी से जोड़कर ही देखते हैं। इसे गहराई से देखने का कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। राजनीतिक दल इसका अपनी वृत्ति राजनीति के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। कुछ दल अपने मुसलमान समर्थकों को और कुछ दल अपने बंगाली समर्थकों को नाराज न करने की दृष्टि से असम-आन्दोलन के प्रति अपना रुख बना रहे हैं। किसी भी आन्दोलन के बारे में निर्णय करने का यह एक बचकना तरीका है। इसी वजह से इंदिरा कांगरेस और मार्क्सवादी

कम्युनिस्टों की असम-नीति एक-सी हो रही है। अगर इसी ढंग से आन्दोलन के मूक द्रष्टा राजनीतिक दल रहे, अखबारें तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करती रहीं और दमन की कार्रवाई चलती रही तो स्वाभाविक ढंग से विकृति पैदा होगी। अगर देश की राजनीति की सहानुभूति इस जनान्दोलन के प्रति नहीं जाएगी तो यह आश्चर्य की बात नहीं जब उसमें विदेशी शक्ति घुसपैठ करे। समता युवजन सभा ने असम-आन्दोलन के खिलाफ चल रहे प्रचार को काटने की दृष्टि से सहयोगी युवा-संगठनों को ढूँढ़कर सयुक्त कार्यक्रम बनाने का निर्णय लिया है। आन्दोलन के सकारात्मक पहलू को पकड़कर और गुजरात, असम, बिहार, मराठवाड़ा, तेलंगाणा, झारखण्ड आन्दोलन को मिलकर हम एक राष्ट्रीय आन्दोलन पैदा करना चाहते हैं। असम की मूलभूत समस्या क्या है? इसको हम और गहराई से देखें ताकि इसे कैसे भारत की धारा बनाया जाए। मध्य भारत में कोई आन्दोलन बिहार और गुजरात जैसा होता है तो देश भर के नेता आते हैं। परन्तु असम के बारे में जानने-समझने के लिए किसी भी राजनीतिक दल का बड़ा नेता था राजनीतिक संगठन का अच्छा खासा समूह इस आठ महीने के दौरान डेढ़-दो महीने भी वहां रहकर समस्याओं के अध्ययन का साहस नहीं जुटा पाया। सरकारी प्रचार से सभी गुमराह हुए हैं।

भाषावार प्रान्तों का बंटवारा आजादी के बाद से हुआ। इसे एक विकृत दृष्टिकोण लेकर किया गया। भाषावार प्रान्तों के बढवारे के पहले अंगरेजी को हटना चाहिए था। एक राज्य के लोग दूसरे राज्यों की भाषा से कैसे मंत्री रख पाएंगे इसको सोचना चाहिए था। असम के बंटवारे के समय असमिया भाषा के आधार पर बंटवारा तो किया गया। परन्तु कोई भी बंगाली, हिन्दू माध्यम वर्ग अंगरेजी के कारण असमिया भाषा को नहीं अपना सका। छोटी-छोटी भाषाओं की उपेक्षा के कारण जो असंतुलन पैदा हुआ उसके कारण असम को बाद में कई टुकड़ों में बांटना पड़ा। खासी, नागा, मिजो, कछार को उसी तरह भाषा के आधार पर न्याय नहीं दिया गया जिस तरह उड़ीसा, बिहार, पं० बंगाल के आदिवासियों के साथ न्याय नहीं किया जा सका है। पिछले दस साल के हरेक बड़े आन्दोलन के पीछे बेरोजगारी के समस्या रही है। असम आन्दोलन के पीछे भी बेरोजगारी एक

प्रमुख समस्या है। राष्ट्र की बेरोजगारी के साथ इसे कैसे जोड़ा जा सके इसकी कोशिश देश के सभी युवा संगठनों को और असम के विद्यार्थी नेताओं को करना होगा।

फिलहाल इन समस्याओं के बारे में आन्दोलन दिशाहीन है। लेकिन मात्र उससे आन्दोलन गलत नहीं हो जाता। यह कोई अलगाव का आन्दोलन नहीं, भारतीय विद्रोही चेतना का उद्गार है। हम उन तमाम राजनीतिक समूहों से अपील करना चाहते हैं कि इस आन्दोलन को तानाशाही के विरुद्ध तथा देश के पुनर्निर्माण के लिए एक अखिल भारतीय आन्दोलन में परिणत करने की रचनात्मक कोशिश करें। यह तभी संभव होगा जब सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विषमता के प्रति राष्ट्र का ध्यान जायेगा। विदेशी समस्या ने असम की क्षेत्रीय पिछड़ेपन और सांस्कृतिक असंतुलन को और अधिक जटिल बना दिया है। अगर पूरे देश के दृष्टिकोण से देखा जाए तो विदेशियों की समस्या भारत के विभाजन से पैदा हुई है और इसका हल पड़ोसी देशों से सहयोग और मैत्री की नीति अपनाकर किया जाना चाहिए। कुछ संख्या में विदेशियों का भारत में आना स्वाभाविक है। लेकिन यह एक विडम्बना है कि उसका पूरा बोझ असम पर पड़े।

रपट

समता युवजन सभा

बिहार छात्र-युवा संघर्ष समिति का द्वितीय सम्मेलन 16,17 मई को सिवान के पचरूखी में हुआ। सम्मेलन में सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि छात्र-युवा संघर्ष-समिति को समता युवजन सभा, भारत में समाहित कर दिया जाए। पिछले साल संघर्ष समिति ने अपने सराय सम्मेलन में प्रस्ताव के जरिए राज्य समिति को यह निर्देश दिया था कि वह एक नये अखिलभारतीय युवा संगठन बनाने के लिए पहल करे। सम्मेलन के निर्देश पर पिछले नवम्बर में देश के कई युवा संगठनों के प्रतिनिधियों की बैठक सिकन्दराबाद (आन्ध्रप्रदेश) में हुई थी जिसमें समता विद्यार्थी सभा, हैदराबाद; प्रजातांत्रिक समाजवादी छात्र संगठन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय; युवा जनता, दिल्ली; समाजवादी युवजन सभा, कर्णाटक, इत्यादि संगठनों के प्रतिनिधि शामिल थे। सभी संगठनों के प्रतिनिधियों ने मिलकर समता युवजन सभा, भारत के नाम से एक अखिल भारतीय युवा संगठन की स्थापना की। बैठक ने यह महसूस किया कि बिहार छात्र-युवा संघर्ष समिति के सराय सम्मेलन में पारित विभिन्न प्रस्तावों के अनुरूप ही समता युवजन सभा काम करेगी।

सिवान सम्मेलन के राजनीतिक प्रस्ताव में कहा गया है कि 20वीं शताब्दी के आठवें दशक में पहुंचने पर आज छा-युवा संगठनों की जो हालत हो गयी है वह सर्वथा अप्रत्याशित नहीं है। 1974 के बिहार आंदोलन में पैदा हुई युवा शक्ति की भूमिका से एक आशा जगी थी लेकिन अपनी पूर्व मान्यताओं के प्रति आग्रह और लोकनायक जयप्रकाश नारायण की शारीरिक अस्वस्थता के कारण नेपथ्य में चले जाने से अधिकांश युवा शक्ति परिवर्तन का औजार बनने में विफल साबित हुई। राजनीतिक दलों के बारे में विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए प्रस्ताव में कहा गया है कि जनता पार्टी अपने दायित्वों को निबाहने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुई जिसके कारण इन्दिरा कांग्रेस मजबूत हुई

और अन्ततः वह आज पुनः सत्तारूढ़ है। इन्दिरा कांग्रेस जिनके हितों का प्रतिनिधित्व करती है उससे देश में बुनियादी परिवर्तन असंभव है और उन न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति अन्ततः लोकतांत्रिक ढांचे को तोड़कर ही हो सकती है। सत्ता के आने के बाद इन्दिरा कांग्रेस ने अपना रूख खुले रूप से जनता के सामने रख दिया है। एमरजेंसी के अपराधियों को पुनः पदस्थापित करना, अपने विरोधी अफसरों की घेराबंदी, नजरबंदी कानून को लागू करना, मजदूरों के अधिकारों में कटौती करने की साजिश और पुलिस को निरंकुश रूप से अधिकार देना, न्यायपालिका के ऊपर दबाव आदि की कार्यवाही से अब साफ हो गया है कि इन्दिरा सरकार तानाशाही की ओर कदम बढ़ा रही है। उसके दल में लोकतंत्र भी समाप्त है। दल पर इन्दिरा गांधी और संजय गिरोह का कब्जा है। इस दल से परिवर्तन की आशा करना न केवल व्यर्थ है, वरन् इससे तानाशाही का खतरा स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ गया है।

देश के विरोधी राजनीतिक दलों की हालत दयनीय है। दल के अन्दर की लोकतांत्रिता, संगठन और उनके नेताओं के चरित्र को देखते हुए उनसे कुछ आशा रखना व्यर्थ है। साधारण जनता को मौजूदा राजनीतिक दलों और उनके नेताओं के चरित्र को देखकर राजनीति से घृणा हो गयी है। यह बहुत ही खतरनाक लक्षण है। इससे उबरने के लिए वर्तमान राजनीतिक दलों के दोषों से मुक्त एक ऐसी सशक्त धारा की जरूरत है जो 1974 के आंदोलन की मान्यताओं और उसके बाद के नये विचारों पर आधारित हो तथा जनता की बुनियादी समस्याओं के लिए एक सशक्त आंदोलन खड़ा कर सके। इस संदर्भ में सम्मेलन लोहिया विचार मंच की पहल से एक नये राजनीतिक दल के गठन के लिए प्रस्तावित 'प्रक्रिया सम्मेलन, का स्वागत करता है जो बंगलूर में 11, 12, 13 जून हो गया।

समता युवजन सभा के संगठन और कार्यक्रम संबंधी प्रस्ताव में चालू राजनीतिक तरीकों को छोड़कर नयी कार्यशैली विकसित करने के ऊपर जोर दिया गया है। इसी सोच के अनुसार गांव, कस्बा, मुहल्ला, कारखाना, खदान, स्कूल, कालेज आदि इकाईयों को बुनियादी इकाई मानकर

संगठन—निर्माण करने का निर्णय किया गया है। सम्मेलन की राय में अभी तक की कार्य—पद्धति ऊपर से नीचे जाने की रही है जो अलोकतांत्रिक है। कार्यपद्धति को लोकतांत्रिक और व्यवहारिक बनाने के लिए नीचे की इकाईयों से संगठन बनाकर ऊपर की इकाईयां गठित करनी होंगी। इसलिए राज्य समिति और जिले की समितियों को भंग कर दिया गया है। जबतक नीचे से ऊपर तक संगठन का ढांचा नहीं बन जाता है तबतक के लिए राज्य —स्तर पर तीन सदस्यीय कार्यालय —समिति बनायी गयी है समनवय का काम करेगी। सर्वश्री राजेन्द्र कुमार बिंदल, ससुधांशुभूषण तथा रमाशंकर भारती को सम्मेलन में सर्वसम्पति से कार्यालय समिति का सदस्य निर्वाचित किया गया।

आज के राजनीतिक माहौल में किसी युवा संगठन द्वारा इस तरह की लोकतांत्रिक एवं क्रांतिकारी संगठन पद्धति को अपनाना बिल्कुल नयी आशा का संचार करता है। सम्मेलन में बेरोजगारी, शिक्षा—नीति अफगानिस्तान, असम आंदोलन एवं हरिजन हत्याकांड संबंधी प्रस्ताव भी पास किये गये। समता युवजन सभा ने असम आंदोलन का समर्थन किया है तथा अफगानिस्तान में रूसी हमले की निन्दा की है।

द्विदिवसीय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए युवा नेता श्री शिवानंद तिवारी ने कहा कि देश की राजनीति और जनता पारटी की राजनीति के सम्बन्ध में हमलोगों का विश्लेषण बिल्कुल सही निकला है। देश के किसी भी मौजूदा राजनीतिक दल में लोकतंत्र नहीं है। युवा संगठनों की हालत उनके पिछलग्गू जैसी है। इस चालू राजनीति से अलग हटकर कुछ करने के लिए हमलोगों ने चुनाव—उपवास का फैसला किया है। संगठन के अध्यक्ष श्री रघुपति ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि हम सराय सम्मेलन की काया तो लेकर नहीं इकट्ठी हुए हैं लेकिन उससे बड़े संकल्प के साथ सिवान सम्मेलन में जरूर मिल रहे हैं। हमारे साथी हमसे इसलिए अलग होते गये कि वे संकल्प की राह पर आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। आज की मौजूदा राजनीति से लोगों का विश्वास उठ गया है, राजनीति के प्रति लोगों की पुनः आस्था बनने इसके लिए आज की युवा पीढ़ी को त्याग

और बलिदान करना होगा। एक-दो साल का त्याग और बलिदान नहीं, बल्कि बीस साल के त्याग और बलिदान से ही हम राजनीति में नया अर्थ भर सकते हैं। सम्मेलन का समापन करते हुए समतावादी नेता किशन पटनायक ने कहा कि राजनीति खासकर गरीब मुल्कों में अपरिहार्य है। कोई भी बड़ा परिवर्तन बिना राजनीति के नहीं हो सकता है। भ्रष्ट राजनीति प्रत्येक क्षेत्र को दलाल बना देती है और क्रांतिकारी राजनीति बदलाव करती है। आधुनिक भारत की राजनीति जिसे सत्तर-अस्सी साल पहले महात्मा गांधी और भगत सिंह ने शुरू किया था वह आज खत्म हो गयी है। इसलिए आज देश में पुनः एक नयी राजनीतिक पार्टी बनाने की जरूरत है। नयी राजनीतिक पार्टी मौजूदा राजनीतिक दलों से बिल्कुल अलग होगी और इसकी विश्वसनीयता इसके ढांचे और कार्यपद्धति में होगी। अगर नयी राजनीति देश में पैदा हो गयी तो उसे सफलता अवश्य मिलेगी।

खतरा इसी में है कि हम इस तरह की राजनीति पैदा कर पाएँगे या नहीं क्योंकि राजनीतिक पार्टियाँ जो सड़ रही हैं उसी के संपर्क में रहकर हम सभी लोगों की राजनीति शुरू हुई है। इसलिए हम सभी लोगों को इससे मुक्त होना पड़ेगा एवं एक नयी क्रांतिकारी कार्यशैली विकसित करनी होगी। बिहार आंदोलन में नयी राजनीति की सारी संभावनाएँ थीं जो 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनने के साथ खत्म हो गयी। अगर देश में नयी राजनीति पैदा नहीं हुई तो पलटनशाही और महाशक्तियों के आक्रमण तक बात जा सकती है।

युवजनों को कुर्बानी का अर्थ समझाते हुए श्री किशन पटनायक ने कहा कि कुर्बानी का तीन मापदंड होगा— (i) किसी पद पर जाने की व्यक्तिगत इच्छा नहीं होगी, (ii) अपने उद्देश्यों के प्रति हमेशा प्रयत्नशील रहेंगे तथा (iii) सोच-समझकर जिस कदम को आगे बढ़ाएँगे उससे पीछे नहीं हटेंगे। उन्होंने कहा कि कुर्बानी युवजनों के व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाना चाहिए।

समता सम्मेलन

11, 12,13 जून '80

स्थान : बंगलूर

सम्पादक : किशन पटनायक

समता प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, पूर्वी लोहानीपुर, पटना – 800003

के लिए बजरंग सिंह द्वारा प्रकाशित तथा लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस

नयाटोला, पटना-800004 से मुद्रित